



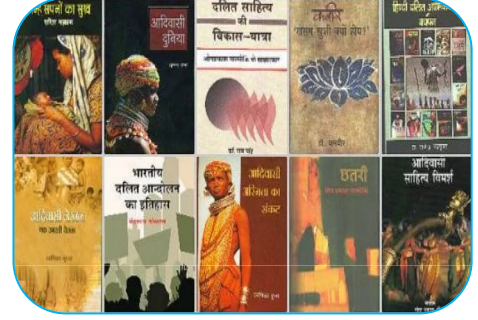
## हिंदी साहित्य और दलित आत्मकथा: सहानुभूति या स्वानुभूति एक विमर्श

पंकज कुमार सिंह

शोधार्थी, श्री कृष्णा विश्वविद्यालय छतरपुर, मध्य प्रदेश.

हिंदी साहित्य में आत्मकथा पश्चिमी साहित्य की देन है। जैसे तो हिंदी साहित्य में पहली आत्मकथा 17वीं सदी में बाबू बनारसी दास द्वारा लिखित 'अर्द्धकथानक' था। इसके बाद तो लम्बी फेहरिस्त है आत्मकथाओं का। भारतेंदु हरिश्चंद्र रचित 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती', दयानंद सरस्वती रचित 'जीवन चरित्र', 1860 में भाई परमानंद रचित 'आपबीती', श्यामसुंदर दास रचित 'तरुण के स्वप्न' इत्यादि। किंतु इन सभी साहित्यकारों को तथाकथित उच्च वर्गीय समाज का प्रतिनिधि माना जाता रहा है किंतु भारतीय समाज में एक ऐसा भी वर्ग था जो सामाजिक एवं शैक्षणिक रूप से हाशिए पर था या यौ कहें कि समाज की मुख्यधारा से अलग शोषित, पीड़ित एवं वंचित बिल्कुल नेपथ्य में था। इन वर्गों का अन्य क्षेत्र की भाँति साहित्य के क्षेत्र में भी प्रतिनिधित्व नगण्य था। जैसे तो कहा जाता है कि भारतवर्ष के दोनों प्राचीन महाकाव्य रामायण और महाभारत जिनके रचनाकार महर्षि वाल्मीकि और महर्षि वेदव्यास दलित समुदाय से ही आते थे। किन्तु इनकी रचनाएं संस्कृत साहित्य का हिस्सा हैं। कालांतर में हिंदी साहित्य के स्वर्ण काल में भक्ति काल, संत रविदास, महात्मा कबीर भी इन्हीं वंचित समुदाय से आते हैं। आधुनिक काल में हीरा डोम सर्वाधिक चर्चित दलित साहित्यकार हैं, जिनकी रचना 'अछूत की शिकायत' है। जैसे तो हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं में दलित चेतना के छाप छिटपुट दिखाई दे रहे थे, किंतु साहित्यिक समीक्षकों ने इसे स्वानुभूति नहीं बल्कि सहानुभूति का विषय माना। इस विषय पर विख्यात समीक्षक श्रद्धेय नामवर सिंह का तर्क था की घोड़े पर कुछ भी लिखने के लिए घोड़ा होना आवश्यक नहीं है। इस तर्क पर टिप्पणी करते हुए दलित चिंतक एवं प्रसिद्ध साहित्यकार शरण कुमार लिंगबाले में लिखा कि घोड़े के शारीरिक सौष्ठव पर लिखने के लिए घोड़ा होना आवश्यक नहीं है किंतु घोड़े की भूख व पीड़ा लिखने के लिए घोड़ा होना आवश्यक है।

इन तर्कों से स्पष्ट होता है कि ऐसा नहीं कि दलितों पर लिखा न गया हो, उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचंद की रचनाओं के अधिकांश पात्र तो इन्हीं तबके से आते हैं। किंतु मुंशी जी में यह भाव स्व-अनुभूति का नहीं बल्कि सहानुभूति का विषय रहा है। इसलिए इतना तो स्पष्ट है कि सहानुभूति इतना मौलिक नहीं रह जाता जितना स्व-अनुभूति। इस कड़ी में स्व-अनुभूति का सबसे सशक्त हस्ताक्षर आत्मकथा विधा को ही माना जाता है। आत्मकथा साहित्य की एक ऐसी विधा माना जाता है जिसमें रचनाकार अपने निजी जीवन अनुभव को बिना किसी लाग लपेट के अंकित करता है। आत्मकथा या आत्मवृत्त हमारे जीवन का वह हिस्सा है जो सर्वर्ण रचनाकारों द्वारा उत्प्रेरित सामाजिक घटनाओं और दुर्घटनाओं की परत-दर-परत खोलती है। साथ ही वैसी ऐतिहासिक रचनाएं शोषण और उत्पीड़न के चश्मदीद गवाह रहती हैं। आत्मकथाएं हमारे जीवन में संघर्ष हेतु प्रेरक का काम करती हैं। जैसे ऊपर लिखा गया है, हिंदी साहित्य में आत्मकथा लेखन की प्रदीर्घ परम्परा रही है। और इस विधा को स्व-अनुभूति का सशक्त हस्ताक्षर के रूप में स्वीकार भी किया गया है। हिंदी साहित्य में



दलित आत्मकथाओं का प्रवेश मराठी साहित्य के माध्यम से होता है या फिर यह भी कह सकते हैं कि मराठी दलित साहित्य से अन्य भाषाओं में दलित साहित्य का उद्भव और विकास हुआ। दलित आत्मकथा लेखन 'अस्मितादर्श' त्रैमासिक पत्रिका के माध्यम से प्रकाश में आया। 'मी आणि माझे लेखन' (मैं और मेरा लेखन) शीर्षक से मराठी दलित साहित्यकारों की आत्मकथा अस्मितादर्श के 1976 के दीपावली अंक में प्रकाशित हुए हैं। इनमें श्री नारा. शेंडे, केशव मेश्राम, बंधु माधव, राजा डाले, योगीराज बाघमारे और ज.वी. पवार की आत्मकथा प्रकाशित हुईं। जिसमें उन्होंने मराठी दलित साहित्य में आत्मकथा निर्मित की पृष्ठभूमि तैयार की और देखते-देखते गाँव, कस्बों और शहरों में बिताया गया दलित बचपन कागजों में उतरने लगा। संख्या की दृष्टि से देखा जाए तो मराठी दलित आत्मकथाओं के बाद हिंदी दलित आत्मकथाओं का ही नंबर आता है। मराठी में दलित साहित्य सन् 1960 के आस-पास उभरना आरम्भ होता है।

लगभग तीस साल बाद, 1990 के बाद हिंदी साहित्य में इसका प्रादुर्भाव होकर अभी तक हिंदी साहित्य में दलित आत्मकथाओं की संख्या लगभग 30 तक पहुँच गई है। इस कड़ी में ओमप्रकाश वाल्मीकि रचित 'जूठन', मोहनदास नैमिषराय रचित 'अपने-अपने पिंजरे', श्योराज सिंह बैचैन रचित 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', जयप्रकाश कर्दम रचित 'मेरी जाति', सूरजपाल चौहान रचित 'घूँट के अपमान', एन.आर. सागर रचित 'जब मुझे चोर कहा गया', बुद्ध शरण हंस रचित 'टुकड़े-टुकड़े आइना', कौशल्या बैसंत्री रचित 'दोहरे अभिशाप' और सुनेर सिंह ताराम की 'कतरा-कतरा जिंदगी' इत्यादि। जबकि मराठी साहित्य में इसकी संख्या लगभग 200 पार कर चुकी है। इन नव्य चेतनाओं ने साहित्य विमर्श के नव्य दृष्टिकोण निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ किया है। कहना न होगा कि दलित चिंतकों की दृष्टि में अतीत एक स्याह पृष्ठ है जहाँ सिर्फ घृणा है, द्वेष है, उदात्त मानवीय सम्बन्धों की गरिमा का विखण्डन है। हर एक प्रसंग, घटना दैहिक वासना बनकर रह गई है। अतीत के आदर्श उसे झूठे और छद्म दिखाई पड़ते हैं, जिसे वह उतार कर फेंक देना चाहता है, ताकि भारतीयता की सच्ची और सजीव पहचान उभर सके। इस परिप्रेक्ष्य में ओमप्रकाश वाल्मीकि की यह टिप्पणी सामयिक और सटीक दिखाई पड़ती है— 'युगों-युगों से प्रताड़ित, शोषित साहित्यिक संस्कृति से वंचित मानव जब स्वयं को साहित्य के साथ जोड़ता है तो दलित साहित्य उसकी निजता को पहचानने की अभिव्यक्ति बन जाता है। हाशिए पर कर दिए गए इस समूह की पीड़ा जब शब्द बनकर सामने आती है तो सामाजिकता की पराकाष्ठा होती है। सदियों से दबा आक्रोश शब्द की आग बनकर फूटता है। तब भाषा और कला की परिस्थितियाँ उसे सीमाबद्ध करने में असमर्थ हो जाती है क्योंकि पारंपरिक साहित्य के छद्म और नकारात्मक दृष्टिकोण के प्रति वह निर्मम है। दलित रचनाकार लुक-छिपकर या घुमा-फिरा कर बात करने का पक्षधर नहीं है। उसके अन्तर सम्बन्धों और परिवेश की वस्तुपरक व्याख्या दलित साहित्य में आरोपित नहीं है बल्कि सहज और स्वाभाविक है।

इसलिए दलित लेखकों के इस कथन में दम है कि केवल दलित ही दलित लेखन कर सकता है। दलित का लेखन ही दलित के स्वानुभूति का लेखन है शेष गैर दलित का लेखन दलित वर्ग के बारे में स्वानुभूति का नहीं अपितु सहानुभूति का हो सकता है। और यह सहानुभूति जातीय, वर्गीय और सांस्कृतिक हितों की भिन्नता के कारण बहुत दूर तक नहीं रहती। कभी-कभी यह सहानुभूति तदनुभूति से भी अधिक खतरनाक होती है। हिंदी साहित्य की दलित आत्मकथाओं के ऊपर यह कथन पूर्णरूपेण सटीक बैठता है।